कुरआने हकीम और मातम

मौलाना सै0 मोहम्मद शाकिर नक़वी साहब अमरोहवी

एक नई आवाज़ कानों से टकराई कि...

"शीआ़ मज़हब बहुत अच्छा लगा सबसे अच्छा, लेकिन यह सीना पीटना, मातम करना, यह क्या? अगर क़ुरआन से इसका जवाज़ साबित कर दिया जाय तो.........."

शुब्हा करने वाले बुज़ुर्ग की ग़लती नहीं है, क़ुरआन खुद दावेदार है कि "ख़िलक़त की कोई खुश्कतर चीज़ ऐसी नहीं जो मुझमें न हो"। मगर कुछ मुसलमानों ने किया यह कि सिर्फ़ क़ुरआन के काफ़ी "होने का ऐलान करके काएनात की हर चीज़ का क़ुरआन से हवाला दे सकने वालों को किनारे कर दिया। ज़ाहिर है कि अब ऐसे जुज़्वी मस्अले क़ुरआन में किसके हाथ लग पाएंगे। लिहाज़ा एक तीर से दो शिकार हुए एक तरफ़ क़ुरआन के दावे के आगे सवालिया निशान लग जाएगा दूसरी तरफ़ शरीअ़त की आड़ में मनमानी करने की ताईद हाथ आ जाएगी।

मैं यह बात इसलिए अर्ज़ करता हूँ कि इसी कमज़ोरी का फ़ाएदा उठा के ऐसे सवालों के जवाब का मुतालबा पेश किया जाता है जिनका ज़ाहिर ज़िर्क क़ुरआन में नज़र न आता हो।

मैं इन जूया–ए–हक़ की क़द्र करता हूँ। जो सिफ़ाते बारी, जब्र, अख़्तियार और विलायत वग़ैरा की पुरपेचवादी तय करके इस मंज़िल पर वारिद हो गये हैं। लेकिन इन सत्रों का राक़िम इस हैरत में है कि अगर हमारे करमफ़र्मा पर यह सवाल वारिद कर दिया जाए कि:–

"यह बैठकें जो मुसलमान लगाते हैं कुछ अच्छी नहीं लगती। क़ुरआन से इन्हें साबित करो तभी हम इस्लाम को सच्चा धर्म मानेंगे।"

तो ज़ाहिर है कि इस का सटीक जवाब कैसे दिया जाएगा। क्योंकि क़ुरआन मजीद में किसी जगह पर भी नमाज़ पढ़ने के तरीक़े की मुरत्तब और तफ़सीली शक्ल नहीं मिलेगी। "रूकूअ़" का ज़िक्र कहीं है "सज्दे" का कहीं है। इसके अ़लावा "सलात" का मतलब नमाज़ के बजाए दुरूद शरीफ़ भी ले सकते हैं। इसलिए जहाँ हुक्म आया है कि "नमाज़" क़ायम करो वहाँ यह भी समझ सकते हैं कि दुरूद भेजो।" लेकिन अगर "सलात" के मानी नमाज़ ही समझें तो 2 रकअ़ती, 3 रकअ़ती, 4 रकअ़ती नमाज़ों जो इस वक़्त मुसलमानों पर वाजिब हैं उनकी तफ़सील क़ुरआन से साबित करना मुहाल है और कोई क़ुरआन को काफ़ी या कुछ भी समझें क़ुरआन ज़ाहिरी तौर पर यह तफ़सील हर कस व नाकस को बताने पर तैयार नहीं है।

बस ऐसे ही समझ लें कि किसी ग़म से असर लेके हुज़्न व मलाल का ज़िक्र तो हो सकता है। कभी बेटे के फ़िराक़ में बाप की रोते–रोते आखें सफ़ेद कर लेने का, किसी पैग़म्बर की सुन्नत के तौर पर तो ज़िक्र करता है, कभी यह बताता है कि कुछ हस्तियाँ ऐसी हैं जिन पर

जिन्नात व फ़रिश्ते तो क्या उनपर आसमान और ज़मीन रोते हैं।

हाँ! यह सवाल अलग है कि रोया कैसे जाए? सोग मनाया कैसे जाए? तो यह सवाल भी वैसा ही है कि जैसे नमाज़ कैसे पढ़ी जाए? एक रकअती कब पढ़ी जाए? तीन रकअती कब पढ़ी जाए। बहरहाल यह तारीख़ की सितमज़रीफ़ी है कि नाना का कलमा पढ़ने वाले नवासे के नौहा मातम का जवाज़ तलाश कर रहे हैं, कुछ लोग तो इसको हराम ठहरा देने की हद तक बढ़ गये हैं। माना जा सकता है कि महज हुज़ूरस0 की सुन्नत या आपकी ''आल'' की सीरत काफ़ी नहीं है तो ऐसे हज़रात के लिए असहाब के अ़मल की पैरवी में तो कोई दिक़्क़त नहीं है। दूसरे ख़लीफ़ा हज़रत उमर ने अपने भाई का मर्सिया कहने की फ़र्माइश की या नहीं? या शाम के हाकिम यज़ीद बिन सुफ़ियान की मौत पर हज़रत उमर के शदीद रंज वग़म का ज़िक्र तारीख़ों में है या नहीं? अगर तारीख़ ने यह बात गोल कर दी कि इस ग़म व अलम के ज़ाहिर करने में हज़रत उमर ने मातम करने या गरीबान चाक करने ऐसी बातें की या नहीं तो इसमें तआ़ज्जुब की बात क्या है? तारीख़ तो हुज़ूर[स०] की वफ़ात पर मदीने में गिरिया व ज़ारी का जो कोहराम बरपा हुआ था उस को भी गोल कर गयी थी। यह राज़ तो बेइरादा तौर पर तारीख़ लिखने वालों ने तब फ़ाश किया जब हज़रत बिलाल के हुज़ूर[स०] की वफ़ात के बाद दुबारा मदीने पलट के आने के ज़िक्र में लिखा। कुदरती तौर पर इस इम्कान को नकारा नहीं जा सकता कि जब हज़रत उमर यज़ीद पर रो पीट रहे थे तो बेअख़्तियारी में हाथ सर व सीने पर न गया होगा।

अगर हमारा यह ऐतेक़ाद पक्का है कि पैग़म्बर[स०] वहीय की मरज़ी के बग़ैर महज़ अपनी राय से कुछ भी नहीं करते थे तो मानना होगा कि ''हज़रत जाफ़रे तैय्यारकी मौत पर जनाबे फ़ातिमा ज़हरा[स०] को रोते देखकर जब फ़र्माया था कि ''जाफ़र ऐसे शहीदों पर रोने वालियों को रोना ही चाहिए।'' तो यह पैग़म्बर[स०] ने क़ुरआनी हिदायत की बुनियाद पर ही फ़र्माया होगा। अब अगर यह नतीजा निकाला जाए कि अगर जनाब जाफ़र ऐसे शहीद इस क़ाबिल हैं कि आप पर रोया जाए तो शहीदों के शहीद इमाम हुसैन[अ०] सबसे बढ़ के रोए जाने के क़ाबिल हैं।

फिर यह हुज़ूर[स०] तक ही महदूद नहीं हज़रत आदम[अ०] जनाबे इब्राहीम[अ०] जनाबे इस्हाक़[अ०] जनाबे याक़ूब[अ०] जनाबे यूसुफ़[अ०] सबका ऐसे महल पर रोना साबित है।

यहाँ पर यह सवाल उठ सकता है कि हदीसों में इन रोने–धोने की जो मनाही है वह क्या है? तो हम अर्ज़ करते हैं कि यह क़तई मुम्किनात नहीं है बस यह अपने अज़ीज़ों पर अज्र व सवाब के लिए सब्र की तल्क़ीन है, क़ौम पर रोक टोक नहीं। तारीख़ों में आया है कि हज़रत अबुबक्र की रेहलत के दिन मदीने में वैसा ही कोहराम था जैसा हुज़ूर[स०] की वफ़ाते हसरत आयात के दिन था।

नावाब और अबीहू कुद्स में बुख़ूर जलाने की वजह से हलाक हो गये तो जनाबे मूसा[अ०] को जनाज़ा उठाने का हुक्म हुआ लेकिन जनाबे हारून[अ०] और उनके बेटों को हुक्म हुआ कि वह इस मुसीबत पर न शेवन करें, न नौहा करें, न कपड़े फाड़े, न सर बरहना करें। वरना वह भी हलाक हो जाएंगे हाँ! अलबत्ता बनी इसराईल उनका शेवन और मातम करें।

इसके बाद तौरैत की लफ़्ज़ें यह भी हैं कि कोई काहिन अपने किसी अज़ीज़े क़रीब का मातम न करे, न उसकी तज़्हीज़ व तक़फ़ीन में शामिल हो। बाज़ मोअ़तबर किताबों में यह बात भी पायी गयी है कि जनाबे हारून[अ०] के इन्तिक़ाल पर जनाबे मूसा[अ०] ने अपना गरीबान चाक किया था और बनी इसराईल ने तीस दिन तक मातम किया।

कहने वाला कह सकता है कि मुसलमान अगर यहूदियों की ही पैरवी पर मुसिर हैं तो फिर

नौहे मातम पर पाबन्दी के साथ तज़हीज़ व तक्फ़ीन भी छोड़ें या फिर ज़ात बिरादरी मातम करे ख़ास अज़ीज़ न करें।

यहाँ पर अगर कुछ उसूली बातें सामने रखी जाएं तो शायद सही नतीजे तक पहुंचा जा सके, पहली बात तो यह है कि क़ुरआने हकीम में क़यामत तक पेश आने वाला सभी कुछ है। हर हलाल व हराम क़ुरआने मजीद में मौजूद है और जिन चीज़ों को खुसूसियत के साथ मम्नूअ़ करार दिया है उनका खुलकर ज़िक्र है। और जिन चीज़ों का अन्जाम देना ज़रूरी है, उनका भी ज़िक्र वाज़िह लफ़्ज़ों में मौजूद है। अलबत्ता जो चीज़ें वक़्त के तक़ाज़ों पर ज़ाएज़ या नाजाएज़ हो जाती हैं उनके लिए क़ुरआन ने वाज़ेह अल्फ़ाज़ इस्तेमाल नहीं किए हैं। कहीं तज़केरे को बिल्कुल मख़्फ़ी कर दिया है। कहीं अच्छाई और बुराई दोनों मवाक़े पर ज़िक्र कर दिया है। मसलन आयते सजदः में ''बुकिय्यन'' कह के बुका को फ़ेले मुस्तहसन क़रार दिया है। ''व तज़हकून वला तब्कून'' का सयाक़ व सबाक़ भी यही बताता है कि ज़िक्रे क़यामत सुनकर रोना चाहिए हंसना नहीं। उसके बाद ''फ़लयज़हकू क़लीलव्व–वलयब्कू कसीरन्'' की आयत अगर मौजूदा तरतीब के लिहाज़ से देखी जाए तो अलबत्ता आयत का अन्दाज़ कुछ नाराज़गी का हामिल है। लेकिन नतीजतन रोने को क़बीह क़रार देते हुए हुक्म नहीं दिया गया है।''

अब सिर्फ़ सीनाज़नी का सुबूत क़ुरआने करीम से रह जाता है जो हमेशा से सफ़बसफ़ हो के की जाती है तो इस ज़ैल में ''वस्साफ़्फ़ाति सफ़्फ़न फ़ज़्ज़ाजिराति ज़ज्रन् फ़त्तालियाति ज़िक्रन् ''किसी के पास इसकी क्या दलील है कि इस आयत में सफ़बन्दी करने वालों में मुराद सिर्फ़ नमाज़ में या जिहाद में सफ़बन्दी करने वाले ही हैं और मातम में सफ़बन्दी करने वाले नहीं और क्या दलील है इस बात की कि– ''फ़ज़्ज़ाजिराति ज़ज्रन'' का क़ुरआनी इमला ''ज़े'' से ही ठीक है ''ज़वाद'' से नहीं क्योंकि क़ुरआन में इमले के अच्छे करिश्मे हैं। और क्या दलील है कि ''फ़त्तालियाति ज़िक्रन्'' से बस क़ुरआन की तिलावत करने वाले ही मुराद हैं। क्या यह बात मुम्किन नहीं कि क़ुर्आन मजीद के 70 बुतून होने की बिना पर एक मतलब यह भी हो कि क़सम है मातम में सफ़बन्दी करने वालों की, और क़सम है ग़म की वजह से दिल तंग और बेक़रार होने वालों की, और क़सम है (नौहा) पढ़ने वालों की।''

अब अगर यह कहा जाए कि इसमें तो बस सफ़बन्दी है। सीने पर हाथ मारना कहां है तो इस का जवाब यही है कि सफ़बन्दी के साथ जबकि आमतौर पर तर्जुमा करने वाले नमाज़ की सफ़ें मुराद ले रहे हों तो उस वक़्त अगर ''वज़्ज़ारिबाति'' और ''ऐदीहिम्'' और ''सद्रन'' जैसे अल्फ़ाज़ भी आयत में इस्तेमाल कर लिए जाते तो यह सारी की सारी आयतें कत्ई तौर पर नमाज़ के लिए मख़्सूस हो जातीं क्योंकि ''वज़िब्ना बिखुमूरिहिन्न अला जुयूबेहिन्ना'' की रौशनी में यह ले लिए जाते कि ''और सीने पर हाथ बांधने वालें की क़सम'' लिहाज़ा सीने पर मारने का तज़्किरा ही छोड़ दिया गया। अब रही यह बात कि ''वत्तालियाति'' के माना नौहे के कहां से ले लिए गये तो इसका जवाब यह है कि पहली आयत में जब ग़म से दिलतंगी और बेक़रारी का ज़िक्र है तो ग़म और बेक़रारी में किसी ज़िक्र का नाम ही तो नौहा है।

अगर आपको मज़ीद तशफ्फ़ी मतलूब है तो सूरा वज़्ज़ारियाति की 29वीं आयत तिलावत फ़र्माइये।

''जब फ़रिश्तों ने जनाब इब्राहीम को जनाबे इस्हाक़ की बशारत दी तो आपकी ज़ौजा चीखती चिल्लाती आयी और मुंह पीट लिया और फ़र्माने लगीं कि ''मैं तो बांझ औरत हूँ। ''इस आयत को जब बशारत की दूसरी आयतों से

बाकी पेज नं0 6 पर................